उपनिषद वाणी

ईश्वर से परिचय मन की वृत्तियां ही कराती है

कभी किसी **विद्वान** का कहा यह वाक्य आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना कि कथन के अवसर पर रहा होगा और यह कदाचित भविष्य में भी रहेगा। ईश्वर या ईश्वर का कोई भी कल्पित स्वरूप वस्तुतः बाह्य नहीं होता, उससे कहीं अधिक व्यक्ति के अन्तर में होता है और यही कारण है, इस देश में देवताओं की विविधता के पीछे भी। एक ओर **श्रृंगार रस** की पराकाष्ठा पर खड़े कृष्ण भी देवता हैं, तो वही शमशान में निस्पृह और **फक्कड़ भाव** से पड़े **भगवान शिव** देव ही नहीं देवाधिदेव की संज्ञा से विभूषित हैं। एक ओर **दारिद्रय** की प्रतिनिधि बन **भगवती धूमावती** भी **महाविद्या** हैं, तो वही अत्युदात्त ऐश्वर्य से परिपूरित **भगवती षोडशी** भी उन्हीं दस महाविद्याओं में से एक हैं। यह तो जीव के मन की **प्रवृत्ति** होती है कि उसे कौन सा स्वरूप भा जाता है या वह किस स्वरूप में अपने ही **अन्तर्मन** की पूर्ति प्राप्त कर उस स्वरूप को **देवता** मान लेता है या अधिक **स्पष्टता** से कहें, तो उसे देवता घोषित कर अपनी भावनाओं को एक **सामाजिक, नैतिक मान्यता** देने का प्रयास करता है। शायद कृष्ण ने भी इतना श्रृंगार रस में आनन्द न लिया होगा, जितना उनको देवता घोषित करके **परवर्ती समाज** ने लिया! और इसका सबसे पुष्ट प्रमाण है, **रीतिकालीन कवियों** की वे रचनाये, जिनके समक्ष तो आज का कोई सामान्य ग्रंथ भी नहीं टिक सकता है। यह एक बड़ी चतुराई पूर्ण व्यवस्था रही है, इस समाज की अपनी ही वासनाओं पर एक झीना सा पर्दा डालने की और आज भी यह प्रवृत्ति मृत नहीं हुई है। अन्ततोगत्वा इसमें हानि समाज की है, व्यक्ति की है, क्योंकि इस प्रकार के क्रिया कलापों के द्वारा व्यक्ति ही उस **परम तत्व** से पृथक हो जाता है, **दूर होता** चला जाता है।

गुरू द्वारा **'जन्म'** देना अत्यन्त पीड़ादायक घटना कही गई है, क्योंकि 'जन्म' देने से पूर्व वे 'मृत्यु' देते हैं, व्यक्ति की पूर्व भावनाओं को उसके पूर्वाग्रहों को... और पूर्वाग्रह तो प्रत्येक व्यक्ति के साथ चलते ही रहते हैं। यह पूर्व **जन्म के संस्कारों** के कारण भी हो सकता है और इस जन्म में सुनी-सुनाई, रटी-रटाई समाज की बद्ध धारणाओं के फलस्वरूप भी। केवल जिह्वा से ही गुरू-गुरू की रट लगाने से ही जीवन में **'गुरू'** उपलब्ध नहीं हो जाते हैं, केवल उनके चरण स्पर्श करने से या उन्हें देखने से भी कोई आवश्यक नहीं कि वे मन-प्राण और जीवन में समाहित हो ही जाये, क्योंकि समाहित तो वे तब हो सकेंगे जब हृदय किसी पूर्वाग्रह से रिक्त होगा। जब तक वहां किसी और की मूर्ती बिठा रखी होगी, उसे **छोड़ना** ही न चाह रहे होंगे, तो वे समाहित होंगे भी कहां?

यह सत्य है, कि प्रत्येक जीव को उसकी **भावनाओं** के अनुरूप प्रारम्भ में वैसा ही स्वरूप दिखाते हैं, क्योंकि मानव देह में प्रस्तुत होते **निखिल ब्रह्माण्ड** की ही एक **सजीव प्रस्तुति** जो होते हैं। जिनके विविध अंग-उपांग में अनेक देवी-देवता(तथाकथित) या उन **देवी-देवताओं** का लीला विवरण यूं तैर रहा होता है, जिस प्रकार से सुविस्तृत गगन में अनेक मेघ आते-जाते रहते हैं, किन्तु वे मेघ तो उस आकाश का स्वरूप नहीं होते, न उन मेघों से आकाश का कोई परिचय होता है। आकाश की अपनी **शुभ्र नीलिमा** होती है वही उसकी वास्तविक अभिव्यक्ति, उसका परिचय होता है और सही अर्थों में गुरू का तात्पर्य एक शुभ्र स्वच्छ आकाश ही होता है। यह अनायास नहीं है, कि इसी कारणवश गुरू की अभ्यर्थना **'अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरं, तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः'** के रूप में की गई है।

सम्भव है, कि किसी **भक्त प्रवृत्ति** के व्यक्ति को ये बातें रूचिकर न लगे, क्योंकि व्यक्ति की जब भी उसकी धारणा पर चोट लगती है, तो उसके **अहं को चोट** लगती है और कोई भी व्यक्ति अपने अहं पर चोट सहन नहीं कर पाता। **भक्ति तो एक भय** है, भक्ति तो एक **स्वार्थ पोषण** का यंत्र है। यूं यथार्थ में होते ही कितने भक्त हैं, जो भक्ति मार्ग को श्रेयस्कर घोषित किया जा सके? मैंने तो **सूक्ष्म अवलोकन** में यही देखा है, कि जो व्यक्ति स्वयं को भक्त कहते हैं, किसी **देवी** या **देवता** के प्रति स्वयं को समर्पित घोषित करते हैं, वे मन के किसी न किसी कोने में इसका **एक मिथ्या बोध** लिये **दम्भ** से भरे ही रहते हैं और उनकी मान्यता पर जरा सी चोट पहुँची नहीं, कि वे तड़प उठते हैं, उनके **दम्भ का विष छलक** कर बाहर आ जाता है। जो इस देश के इतिहास से परिचित होंगे, वे जानते होंगे, कि कैसे इसी देश में, इसी सहिष्णु कहे जाने वाले देश में **वैष्णवों** व **शैवों** के मध्य केवल तर्कों का आदान-प्रदान ही नहीं, युद्ध तक हुआ है।

व्यक्ति का पूरा जीवन ही यूं छद्मों के **पोषण, आवरण** और **मिथ्या** प्रलाप में बीत जाता है, क्योंकि उसने विश्लेषण की उस प्रक्रिया से संयुक्त होना नहीं सीखा होता है, जो उसे गुरू के साहचर्य में आने के बाद अवश्यमेव अपनानी चाहिये और ऐसा वह इसलिये नहीं करता है, क्योंकि विश्लेषण की प्रक्रिया से संयुक्त होना त्रासदायक है। यह इतनी अधिक त्रासदायक क्रिया है, कि कबीर ने इसे घुन द्वारा काठ को खाये जाने की **संज्ञा** दी है, जो इस प्रक्रिया में संयुक्त हुआ नहीं उसका हास्य ही नहीं रूदन भी खो जाता है, क्योंकि एक ओर तो उसे **हर्ष** होता है, कि जीवन में कुछ नवीन प्राप्त करने निकल पड़ा है, तो वहीं दूसरी ओर प्रतिपल उसे उस अज्ञात की दूरी कचोटती है, जिसका वह गुरू से सम्पर्क में आने के बाद प्रथम क्षणों में **साक्षात** कर आगे बढ़ा होता है-

रोऊं तो बल घटे है, हंसू तो हरि रिसाय।
मन ही मांहि बिसूरन, ज्यों काठहि घुण खाए॥

इसके उपरान्त भी कुछ **साधकों** को अपने पूर्व जन्म के **संस्कारों, प्रवाहों चैतन्यता** और **जीवन** में कुछ नूतन घटित करने के आग्रह के कारण सदैव से यही मार्ग रूचिकर लगा है और ऐसे ही **व्यक्ति विभूति** बने हैं। यूं तो अनेक **भक्तों** ने भी अपना जीवन **न्यौछावर** किया है, किन्तु उनका सम्पूर्ण चिन्तन एकांगी रहा है। उन्होंने **ईश्वर** को केवल अपना माना है और अपने को केवल ईश्वर का माना है, जबकि **साधक** का लक्ष्य **आत्म कल्याण** से उठते ही, उसे सम्पूर्ण करते ही तत्क्षण लोक कल्याण की ओर **उन्मुख** हो जाना है या यूं कहें कि वह आत्म कल्याण या अपनी मुक्ति का हेतु बन सके, **गुरूत्व** से युक्त हो सके। जहां तक ईश्वर और भक्त के बीच की बात है, वहां तो कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु जब साधक गुरू का आश्रय ग्रहण करने के बाद भी एकांगी रूप से चलता रहे, तो उसे किस प्रकार **श्रेयस्कर** कहा जा सकता है? गुरू का तो आगमन ही होता है अनेक के लिये और यही उसके शिष्य का भी लक्ष्य होना चाहिये। अपनी बद्ध धारणाओं से मुक्त होकर गुरू साहचर्य को इस प्रकार ग्रहण करना भी एक प्रकार से **गुरू साधना** ही है।

चेतना का प्रवाह गंगा की भांति कभी रूकता नहीं है और अन्त में स्वयं को एक ऐसी **विशालता** में लुप्त पाता है, जिसमें किसी देवी-देवता का(अथवा स्वयं उसका) कोई स्वरूप नहीं रह जाता। यही वास्तविक रूप में **गुरू परिचय** की स्थिति होती है और यही **ब्रह्मत्व** की भी स्थिति होती है। ऐसे गुरू रूपी समुद्र में प्रतिक्षण अनेक **दिशाओं** से आती ज्ञान की धाराये **कभी प्रवाह को शुष्क नहीं होने देती हैं।** गुरू से अन्त में **'मिलन'** नहीं होता है, गुरू तो प्रथम दिवस से ही साथ चल रहे होते हैं। अन्त तो सम्पूर्णता में होता है, अनेकता के सम्मिलन स्थल में होता है। आवश्यक केवल यह रह जाता है, कि शिष्य प्रतिक्षण गतिशील बना रहे। जब उसे मार्ग न मिल रहा हो तब भी वह अटकी नदी की तरह छटपटाता रहता है और **मार्ग के पत्थरों को घिस-घिस** कर समाप्त करने की क्रिया करता रहे... पत्थर तो अनेक हैं! विश्लेषण की क्रिया या इन्हीं सब क्रियाओं का संयुक्त नाम ही तो होती है।

ऐसा होने पर ही **गुरू साहचर्य** की सफलता होती है और शिष्य व्यर्थ के **प्रलापों, धारणाओं** से मुक्त होकर **गुरू रूपी समुद्र** में झुककर अपने **प्रतिबिम्ब** को निहार कर समझ जाता है, कि उसका **नूतन जन्म** तो एक हंस के रूप में कबका हो चुका था।

आशीर्वाद के साथ
कैलाश श्रीमाली